ऑटो के पीछे क्या है

प्रभात कुमार झा + रविकांत

लाज़िम है, कि 'सड़कछाप' शायरी की बात एक सड़कछाप गाने की नक़ल से की जाए। विद्वान जगत शायद विद्योत्माना अंदाज़ में पूछे कि 'अस्ति कश्चिद वाग्विशेषः' — ऐसी क्या ख़ास बात है? बचाव पक्ष वैसे तो दलील देने की ज़रूरत नहीं समझता फिर भी इशारतन गुज़रे ज़माने के चंद महारथियों को फुटनोटित करना शायद होशियारी होगी। उर्दू के आलातरीन, अफ़सानानिगार स'आदत हसन मंटो ने अपने पचासेक साल पहले लिखे एक निहायत चुटीले लेख 'दीवारों पर लिखना' में लगभग सिद्ध कर दिया कि महत्तर सत्य बड़ी इमारतों के बदबूदार मूत्रालयों में खुदे होते हैं। इसका एक और धारदार प्रमाण उन्हीं की एक और कहानी - और क्या, 'मूतरी' — में मिलता है, जहाँ कथानायक हिन्दू-मुसलमानों के बीच चलते वाग्युद्ध अर्थात माँ-बहन का उपसंहार एक तटस्थ क़िस्म के जुमले में हुआ देख कर उस दुर्गंधित माहौल में ख़ुशबू के अहसास से तर होकर बाहर निकलता है। अगर आपने मंटो को पढ़ा है तो आपने देखा होगा कि उनकी कहानियाँ अख़बारी कतरनों को ले कर कल्पना और मर्म के अबूझ ठिकानों का सफ़र ऐसे तय करती हैं, जैसे कि सच और झूठ की मिलावट का पता ही न चले।

मंटो के हवाले से ही पता चलता है कि जनाब पतरस बुख़ारी ने भी उर्दू हाई अदब के उड़नछू घोड़े से नीचे उतरकर इस क़िस्म के भित्तिलेखन को अपनी नज़रेसानी के लायक़ समझा। उसी तरह फ़्रांस के नामी-गिरामी

सिद्धांतकार रोलाँ बार्थ ने इमारतों पर प्रेमी-प्रेमिकाओं द्वारा 'एक-दूजे के लिए' उकेरी गई सार्वजनिक इबारतों को उनके इश्क़ की अद्वितीयता और अमरता के अहसास से जोड़ा है। हाल ही में प्रदर्शित एक और फ़िल्म के नायक बंटी और बबली जब छोटे शहरों की कम-कम बारिश और नदिया की मद्धम रफ़्तार से तंग आकर महानगरीय समंदर में छलाँग लगाने के सपने देखते हैं, तो उनकी एक हसरत यह भी होती है कि कोयले के खड़िये से फ़लक पर अपना बड़ा-बड़ा नाम लिख दें। अगर और शास्त्रीय ढाढ़स चाहिए तो वॉल्टर बेन्यामिन और मिशेल दि सर्त्यू को भी पलटा जा सकता है। क़िस्सा कोताह ये कि सड़कछाप, गली-मोहल्ला छाप, पान-दुकान छाप, चौक-नुक्कड़ छाप या लोक-संस्कृति छाप रचनाशीलता के हम पहले क़द्रदान नहीं हैं। कहते हैं न किसी ज़माने में नज़ीर भी गुज़रे थे और चिरकी तो अंडरवर्ल्ड शायरी के जानकार के लिए मंगलाचरण जैसा ही ठहरे!

बहरहाल, मंटो का अपना नतीजा यह है कि दीवारों पर लिखना इंसानी फ़ितरत में शामिल है। दीवार पर लिखना ऐसा ही है जैसे 'सरे-बाज़ार कोई ब-आवाज़े बुलंद करके कोई ऐलान कर दिया जाए...दीवारों पर क़िस्मत भी आज़माई जाती है... हिसाब के सवाल भी हल किए जाते हैं, सियासत की गुत्थियाँ भी सुलझाई जाती हैं और अपने दिल की भड़ास भी निकाली जाती है...'

तो इन्हीं पुरखों से प्रेरणा-प्रसाद पाकर हमने क़रीब साल-डेढ़-साल पहले दिल्ली की सड़कों पर कभी आड़े-तिरछे, कभी थके-हारे तो कभी रॉकेटीय सैनिक संरचना में अनुशासित चींटियों की तरह तैरते स्कूटर-तिपहिया-ऑटो के पिछवाड़ों को ताड़ना शुरू किया। ताड़ना और पाड़ना भी, यानी उन इबारतों को क़लमबद्ध करना भी शुरू किया। जैसे ही किसी ऑटो के पीछे कुछ लिखा हुआ दिखा नहीं कि हमारी आँखें बकोध्यानम मुद्रा में आ जाती थीं। हाथ, क़लम और काग़ज़ टटोलने लगते थे, और कुछ नहीं मिला तो हम सामने की इबारत को मोबाइल में ही जज़्ब कर लेते थे। अगर दिल्ली पुलिस मुस्तैद होती तो हमारे कई चालान कट चुके होते क्योंकि बाज़ मौक़ों पर तो हमने बाक़ायदा गाड़ी हाँकते हुए इनकी नक़ल करने की कोशिश की है। लेकिन दोस्तों ने भी क्या मदद की! स्कूटर पर हैं तो स्कूटर पर, कार में हैं, तब तो क्या बात है — कई एक साथ हैं — सबों की कोशिश यही होती थी कि इस अमृतवाणी को नोट ही कर लिया जाए। फ़ील तो ख़ैर तत्काल ही कर लेते थे। ज़ाहिर है कि हमारे प्रयास हमेशा सफल नहीं होते थे। कई बार तो टटोल-टटोल कर थक जाते थे, हाथ सिर्फ़ चिल्लड़ आता था। याददाश्त हमसे वादा करती कि याद रख लेंगे लेकिन लेखनी तक पहुँचते-पहुँचते वह भी बेवफ़ाई कर जाती। इस तरह हमने कम से कम सौ-डेढ़-सौ रत्नों को तो खोया ही होगा। शायद उनमें से कुछ को किसी और मोड़ पर पा भी लिया होगा, कौन जानता है? अपने लंबे जुगाड़-काल में हम तो बेशरम थे ही, हमने यह भी पाया कि इस टाइमपास को लेकर जनता में आम उत्साह है और कई लोग तो शौक़िया ऐसा ही काम करते रहे हैं। किसी पार्टी में बात छेड़ दी तो दस में एक मेहरबान के पास तो कुछ

न कुछ निकल आता था। हमारी एक दोस्त को जब पता चला तब से उन्होंने हमें नियमित तौर पर नारे भेजने शुरु कर दिये। तो साहिबान यह एक सामूहिक बौद्धिक कार्य है, और कभी न खत्म होनेवाला भी।

यह भी तजुर्बे की बात है कि इबारतें दिल्ली की ऑटों की ख़ासियत हैं। हमने तो इतनी काव्यमय, ऐसी शायराना सवारीगाड़ी हिंदुस्तान में कहीं नहीं देखी — आसेतु हिमालय और पूरब से पश्चिम तक। बेशक लोग तरह-तरह से अपने रोज़गार, अपने विश्वकर्मा, अपनी लक्ष्मी को सजाते और अराधते हैं, लेकिन जितनी रंगीनी और विविधता यहाँ है, उतनी कहीं नहीं। शायरी का शौक़ दिल्ली के ख़ून में है — मीर, ग़ालिब और अशोक चक्रधर यहीं के तो ठहरे! हमारी राह पर पहले चले महाजन बताते हैं कि थाइलैंड में इसकी बहन को 'टुकटुक' कहते हैं, कि हिन्दुस्तान में ही इसके कई और आकार-प्रकार हैं, इनके थोड़े दूर के सगे-संबंधियों को कहीं 'सूअर' तो कहीं 'गणेश' कहते हैं — जाकी रही भावना जैसी। यह भी कि पाकिस्तान में भी ऑटो की दीवारों पर काफ़ी शायरी आज़माई जाती है, जिनमें से कुछ तो वर्च्युअल या आभासी दुनिया के रास्ते हम तक भी पहुँची है। कुछ छन-छनाकर आप तक भी पहुँचाए देते हैं : वहाँ के ऑटो ख़ुद को एक ओर तो काली 'ज़हरीली नागन' या 'ज़ख़्मी परिंदा' तो दूसरी ओर 'बुलबुल का बच्चा' या 'ख़तरनाक़ रैम्बो' कहते पाए गए हैं। 'डालर की तलाश' में हर कोई 'आफ़रीदी तैयारा' बैठा है। दिल्ली या हैदराबाद की तरह सिनेमा वहाँ भी छाया हुआ है — 'सिर्फ़ तुम', 'ज़िद्दी' या 'मोहब्बतें', जैसी कितनी फ़िल्में आकर चली गई हैं, दीवारों से उनके पोस्टर फट चुके होंगे, लेकिन उनके नाम अभी भी लाहौर या कराची की गलियों में लरज़ रहे हैं। दिल्ली की तरह ही पाकिस्तान के कुछ हिस्सों में पंजाबी बोली की ख़ुशबू आबाद है :

आवांगी हवा बन के।
जावांगी तंग करके।।

ना छेड़ मलंगा नूँ।
पै जाएगा पंगा नूँ।।

हिन्दुस्तान में तुलसीदास की अवधी चौपाइयाँ मिल जाती हैं :

प्रवेसि नगर कीजै सब काजा।
हृदय राखि कोसल पुर राजा।।

तो जैसी कि उम्मीद भी की जाती है, कुछ पाकिस्तानी सड़कछाप शायरी तो वाक़ई अदबी है :

ना डर बाद-ए-मुख़ालिफ़ से ऐ अक़ाब।
ये तो चलती है, तुझे ऊँचा उड़ाने के लिए।।

जो शायद उच्च-भ्रू नक़्क़ादों को भी भा जाएँ। इस शे'र को तो लाल बुझक्कड़, दानिशमंद साहिबान इक़बाल के नाम से जोड़ ले जायेंगे, लेकिन सामान्य तौर पर ये इबारतें खुली इबारतें हैं, इनके लेखक, सर्जक पता नहीं कौन हैं। पता नहीं कहाँ-कहाँ से टुकड़ा जोड़कर, कहीं का रदीफ़ और कहीं का क़ाफ़िया जोड़कर शे'र बना लिया जाता है, पद गढ़ लिए जाते हैं, नारे चिपका दिए जाते हैं। लेकिन इतना तय है कि इनका अस्तित्व प्रवाहमयी है, रवानगी इनकी नियति है, ये चलायमान हैं, शाश्वत गतिमय... सिर्फ़ इस अर्थ में नहीं कि ये चलती हुई गाड़ी से चिपके हैं, बल्कि इस अर्थ में भी कि इन चल-इबारतों का मूल खोजना बड़ा कठिन है। कहा जा सकता है कि ये अफ़वाहों की तरह हैं... जितने मुँह उतनी बातें। उतनी ही तरह की बातें!

अब चूँकि हमने इनके मूल को शक के घेरे में डाल कर इन इबारतों के रचयिता को मौलिक होने की महानता की गुंजाइश से महरूम कर दिया है, तो थोड़ी सफ़ाई देने की ज़रूरत महसूस हो रही है। पूछा जा सकता है कि क्या नक़ल में रचना नहीं हैं? या नक़ल क्या महज़ नक़्क़ाली है, क्या चीज़ों को वक़्त और स्थान के साथ निरंतर नए परिवेशों में ले जाने और उनमें नए अर्थ भर देने में कोई सलाहियत, क़ाबिलियत नहीं है?

कोई हुनर नहीं? क्या अफ़वाहों में ही कोई कल्पना, कोई तसव्वुर नहीं होता। इतिहासकार मान चुके हैं कि कमल के फूल, या चपातियों, या उड़ी-उड़ाई मौखिक उड़नघइयों से 1857 की क्रांति हुई, पातियों से 19वीं सदी में दंगे हुए, गाँधी 'महात्मा' बन गये, दिल्ली-भर में गणेश जी ने दूध पी लिया, या हाल में ही नरवानर का तांडव संभव हुआ! तो, रचना तो है। यह भी मानते चलें कि बातों के मुँह और जगह बदलने से उनका रूप ही नहीं, पैकेजिंग ही नहीं, बातें ख़ुद भी बदल जाती हैं। उनका असर तो बदलता ही है। प्रस्तुत हैं कुछ प्रमाण इस सड़कछाप रचनाधर्मिता के नामः

> तेरी झील सी आँखों में डूब जाने को दिल चाहता है — छपाक!

> जय शिव शंकर, भीड़ ज़रा कम कर

> कही अनकही बातों की अदा है दोस्ती,
> हर रंजो-ग़म की दवा है दोस्ती।
> इस ज़माने में कमी है पूजा करनेवालों की,
> वरना इस ज़माने में ख़ुदा है दोस्ती ॥

> उफ़क़ पर सितारों को नींद आ रही है।
> उल्लू की पट्ठी तू अब आ रही है॥

> कभी साइड से आती हो, कभी पीछे से आती हो।
> मेरी जाँ हार्न दे देकर, मुझे तुम क्यों सताती हो॥

या, सरहद पार से ही एक और योगदानः

> क़ायदे आज़म ने फ़रमाया। तू चल, मैं आया॥

एक शे'र बिहारी दिल्लीवाले की तरफ़ से भीः

> हम भी कभी रहीश थे, जो दुनिया लुटा बैठे।
> क्शिमत ऐसी फूटी, ऑटो चला बैठे॥

लेकिन हम जिस शे'र से सबसे मुतास्सिर हुए, उसे पेश किए बिना बात बनेगी नहींः

> आपके नेचर ने हम पर इतना इफेक्ट किया।
> सबको रिजेक्ट कर हमने आपको सेलेक्ट किया॥

इन्हें आप चाहे जैसे पढ़ सकते हैं, लेकिन इतना ज़रूर है कि ये इबारतें मध्यवर्गीय रूढ़ धारणाओं को चुनौती देती हैं। दिल्ली के एक आम मध्यवर्गीय रोडार्थी की आए दिन की विपदा सुनें तो लगेगा कि ऑटो वालों से ज़्यादा मक्कार तो शायद ही शहर में कोई हो। कुछ तथ्यः स्टेशन पर उतरते ही दिल्ली में नए आए मेहमानों की जैसी खिचिखच भरी ख़ातिरदारी ये उतारते हैं, वैसी कम से कम मुम्बई या हैदराबाद वाले तो नहीं करते। मीटर, चाहे इलेक्ट्रॉनिक ही क्यों न हो, सत्तर फ़ीसदी ख़राब पाए जाते हैं; वापसी में सवारी नहीं मिलती, किसी ज़माने में पिस्टन की बदलाई के चलते चढ़ाई असंभव हो जाया करती थी और ये सारे बहाने चालीस का सत्तर बनाने की फ़िराक़ में गढ़े जाते थे। अगर आप बहस छेड़ें तो उनके पास टका-सा जवाब भी होता है कि साहब, कौन भ्रष्ट नहीं है, जिसका प्रति-जवाब अकसर मुश्किल हो जाता है। हाँ, कभी-कभी कहने का मन होता है — ऑटो क्यों चलाते हो? बैंक क्यों नहीं लूटते? कभी-कभार हम आपसी गप-शप में ऑटोवालों की ईमानदारी की किंवदंतियां सुनते-सुनाते पाये जाते हैं, या साल में एकाध ख़बर अख़बार में भी उग आती है कि फ़लाँ-फ़लाँ ऑटोवाले ने अमुक महिला का पर्स, जिसमें पैसे थे, क्रेडिट-कार्ड थे, जस-का-तस लौटा दिया और हम इसपर

यक़ीन भी करते हैं, पर दाँतों तले उँगली दबाकर। कहने का मतलब यह है कि दिल्ली के तिपहिया चालकों की जनछवि राजनेताओं से बेहतर नहीं है। रही-सही कसर पिछले दिनों सीएनजी संकट के दौरान हुई उनकी हड़तालों ने दूर कर दी। पर ऑटोवालों से निजात भी है क्या? ऑटो अध-बने मेट्रो के इस शहर-ए-दिल्ली की धड़कन हैं — हमसाया भी, मजबूरी भी, आसरा भी। वे आपसे लाख लड़ेंगे, झगड़ेंगे, हुज्जत करेंगे, लेकिन अगले दिन आप ही के इंतज़ार में बिछे मिलेंगे, आँखों में निमंत्रण, दिलों में सेवाभाव लिए :

क्यों बैठे हो सोच में।
आ जाओ मेरे कोच में॥

चलती है गाड़ी उड़ती है धूल।
मिलती है सवारी खिलते हैं फूल॥

अपने दरबार में ऐ मालिक मेरी भी ज़मानत रखना।
मुझे जो भी हो लेकिन मेरी सवारी को सलामत रखना॥

उम्मीद है कि यह सब पढ़के हमारी ही तरह आपके दिल पर भी पड़ी पूर्वग्रह की चट्टानी परतों में एक छोटी-सी दरार पड़ गई होगी और आप ऑटोवालों की कलात्मक प्रतिभा को सराहने के मूड में आ चुके होंगे। वैसे भी, अगर इन इबारतों को इनके लिखनेवालों के आत्मकथ्य की मिसाल मानी जाए तो हमें कोई यकसाँ चरित्र नहीं दिखेगा। शहर की तरह ही इनमें वैविध्य है — इलाक़े का, भाषा का, धर्म का, मिज़ाज का, ख़याल का, तबीयत का, राजनीतिक प्रतिबद्धताओं का, तुकातुक का, रचना व प्रेरणा का... और न जाने किन-किन चीज़ों का, जिन्हें किसी सरल समाजशास्त्रीय या सौंदर्यशास्त्रीय घटकों में घटाया नहीं जा सकता। वैसे तो नैतिक निर्णय हमारे समाज में बहुत सहज और सस्ते उपलब्ध हैं, और हम चाहें तो फ़ौरन उनके आचरण और चरित्र के बारे में मूल्य-विषयक फ़ैसले कर सकते हैं, लेकिन बेहतर यही होगा कि देखें कि ये इबारतें हमसे क्या सब लेकर और किन रूपों में मुख़ातिब हैं।

पहली बड़ी आमफ़हम बात तो यह कि ऑटो की दुनिया पूरी तरह फ़िल्मी दुनिया है : सिर्फ़ इस सामान्य अर्थ में नहीं कि हमारी आपकी और जनसाधारण की दुनिया फ़िल्मी है। हम अपने सरताज महबूब सितारों की तस्वीरें टाँगते हैं, उनकी फ़िल्में 'फ़र्स्ट डे, फ़र्स्ट शो' देखने में गर्व महसूस करते हैं, और बड़े फ़ख़्र से उनके मशहूर जुमले, दृश्य, स्टाइल दुहराते या कॉपी करते हैं। शायद कहा जा सकता है कि हमारी संस्कृति के लिए फ़िल्में एक अहम संदर्भ-बिंदु हैं, जहाँ लोग फ़िल्मों से वैसे ही उद्धरण व सूक्तियाँ लेते हैं, जैसे हमारे पूर्वज-पूर्वजाएँ गोसाईं जी के रामचरितमानस से लेते थे। ऑटो की भीतरी दीवारों पर भी अमूमन हीरो-हीरोइनों की शोख़ या मासूम तस्वीरें होती हैं। ख़ास बात ये है कि बाहरी दीवारों पर ऑटोवालों के नाम फ़िल्मों के नाम पर धर दिए जाते हैं। आपने राह चलते कई 'दिलजले', 'फ़क़ीरा', 'हिना', 'बेवफ़ा सनम', 'मुक़द्दर का सिकंदर', 'मैं तुलसी तेरे आँगन की', 'राजा हिन्दुस्तानी', 'आशिक़ी', 'दिल आशिक़ाना है', देखे होंगे। एक अहम बात यह भी कि ये फ़िल्मी शीर्षक जैसे गाड़ी पर छपकर दीगर चिन्हों की तरह उसके ड्राइवर के मिज़ाज की लक्षणाएँ या व्यंजनाएँ बन जाते हैं। लेकिन बात सिर्फ़ फ़िल्मों से अविकल नक़ल उतारने की नहीं है, बात उस अंदाज़ की भी है, जिसे हम फ़िल्मी कहा करते हैं। अंदाज़ की इस गाड़ी में तरह-तरह के तेवर हैं — रूमानियत, ग़ुस्सा, अकड़, आवारगी, दार्शनिकता, फ़ाक़ा-मस्ती, बेचारगी, विडंबना, दीनो-ईमान, बदला, शहादत, वग़ैरह, वग़ैरह। ऐसा लगता है कि ये सब भावनाएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए जब लोक-सांस्कृतिक विधाएँ तलाशती हैं, तो उन्हें फ़िल्मी मुहावरों के तैयारशुदा विश्वकोश की शरण लेनी पड़ती है, या यूँ कहें मुहावरे जब कुछ यूँ बनते दिखते हैं, तो हम उन्हें फ़िल्मी कहकर पुकारते हैं :

रूप की रानी चोरों का राजा।
मिलना है तो सोनिया विहार आ जा॥

सच्चाई छुप नहीं सकती बनावट के वसूलों से।
कि ख़ुशबू आ नहीं सकती कभी काग़ज़ के फूलों से।।

दिल के अरमां आसुओं में बह गये।
वो उतरकर चल दिए, हम गियर बदलते रह गये।।

दुल्हन वही जो पिया मन भाए।
गाड़ी वही जो मंज़िल तक पहुंचाए।।

जो मिल गया उसी को मुक़द्दर समझ लिया।

कभी हँसना है, कभी रोना है, कभी खोना है, कभी पाना है।
क़िस्मत का तो यही फ़साना है।।

लब्बोलुवाब ये है कि भावनाओं की इस इन्द्रधनुषी दुनिया में हमें भोगे हुए दर्शन मिलते हैं, तो जी-हुई नसीहतें भी। गति का उत्सव मिलता है तो बेकल ज़िंदगी की लानतें भी। कुल मिलाकार शहर और सड़क की अनिश्चित ज़िंदगी की सूक्तियाँ हैं ये नारे जिसमें 'स्ट्रीट-स्मार्ट विज़्डम' अर्थात गली-सुलभ बुद्धि के साक्षात निदर्शन होते हैं। दो-चार मिसालें लें :

अपनों से सावधान

दोस्ती पक्की, ख़र्चा अपना-अपना

माँगना है तो ख़ुदा से माँग बंदे से नहीं।
दोस्ती करनी है तो मुझसे कर, धंधे से नहीं।।

देते हैं रब, सड़ते हैं सब।
पता नहीं क्यों।।

'दुनिया मतलब की' जैसे नारे अगर ज़माने से ठोकर खाई आत्मा की चीत्कार हैं, तो 'अपनों से बचकर रहेंगे, ग़ैरों को देख लेंगे' में एक साथ अपने अस्तित्व का निचोड़ है, तो धमकी भी। लेकिन ऐसा लगता है कि

ऑटो वाले अनिश्चितता के इतने आदी हैं कि अपेक्षित ही उनकी परेशानी का सबब हो जाता है। अब देखिए कि भला करने वाले एक भले ऑटो वाले का क्या निष्कर्ष हैः

मतलब की है दुनिया कौन किसी का होता है।
धोखा वही देते हैं जिन पर ऐतबार होता है।।

नेकी कर जूते खा,
मैंने खाए तू भी खा।

ऑटो वालों की ज़िन्दगी परेशान, जल्दबाज़ी में फँसे, फ़ौरन पहुँचाने की माँग/आदेश/गुहार लगाते पैसेंजरों से अनवरत मुठभेड़ का दूसरा नाम है। ऐसे यात्रियों को भी कभी हौले से 'थोड़ा इंतज़ार का मज़ा लीजिए' तो कभी दिल्ली का ठेठ जवाब मिलता हैः 'ठंड रख ठंड।' लेकिन इसी तीर से पीछे आ रही धैर्यहीन गाड़ियों को भी सबक़ दी गई है।

ऐ आदमी हराम खाना छोड़ दे।
टायर महंगे हैं, रेस लगाना छोड़ दे।।

पीछा करना बेकार है

पार कर, नहीं तो बर्दाश्त कर

लोग नहीं मानें तो कोई कह बैठेगाः

मैं तो ऐसे ही चलूंगी

वह शरीफ़ज़ादा फिर भी शोर मचाये जा रहा हो तोः

भौंक मत कुत्ते की तरह!

अगर इससे भी बात नहीं बनी तो जीवन का अंतिम सत्य ही पढ़ा दिया जाये, शायद कुछ असर होः

भगवान के घर पंद्रह साल पहले जाने से अच्छा है,
अपने घर पंद्रह मिनट देर से जाओ।

जो इतने लंबे वाक्य में नहीं समझ पाया, वह मुख़्तसर में क्या समझेगा, लेकिन सरसइया के दोहरे की तरह शायद बात बन जाएः

जिनको जल्दी थी, वो चले गए!

या

जिनको जल्दी थी वो गुज़र गए!

बाज़-बच्चे, ख़ासकर मोहल्लों में, जब ऑटो धीरे-धीरे, लगभग रेंग रहा होता है तो लटक लेने की कोशिश करते हैं। उन्हें वैसे ही डाँटा गया है, जैसे हमारे समाज में बच्चों को डाँटा जाता हैः

चल हट पीछे!

लटक मत टपक जाएगा!

लटक मत पटक दूंगी!

इसका एक झारखंडी संस्करण भी अभी हमारे हाथ लगा हैः

बेटा छूले त गेले
सटले त घटले!

अर्थात, अगर छुओगे तो जाओगे, और अगर सटे तो दुनिया से घटे। वहीं से एक आवारा मिज़ाज ऑटो वाले का भी पता मिलता है। मुलाहज़ा फ़रमाइएः

फिराया लाल चौक टू बुट्टी मोड़
वाया जन्ने-तन्ने

अर्थात, आग़ाज़ और अंजाम तो तय है पर बीच के स्टॉप या बरास्ते कहीं भी हो सकते हैं। आवारगी के ही मानकों को लेकर चलें तो ड्राइवरों और शराब का आपसी रिश्ता मिथकीय है और एक पद में तो इसकी बाक़ायदा आत्मस्वीकृति भी मिलीः

दुल्हन वही जो पिया मन भाये।
ड्राइवर वही जो पीकर चलाए।।

एक और में तो पीने की वकालत निहायत देवदासाना रूमानियत के साथ की गई हैः

शराब नाम ख़राब चीज़ है, जो कलेजे को जला देती है।
उस बेवफ़ा से तो सही है, जो ग़म को भुला देती है।।

लेकिन हमारी इल्तिज़ा है कि ऑटो के जनपद में ऊपर दी गई नसीहतों को अपवाद माना जाए। आम तौर पर पीकर न चलाने की सख़्त हिदायत ही देखी गई हैः

पीकर जो चलाएगा, परलोक को जाएगा

चलाएगा होश में तो ज़िंदगी भर साथ दूंगी।
चलाएगा पीकर तो ज़िंदगी जला दूंगी।।

बड़ी ख़ूबसूरत हूँ नज़र मत लगाना।
ज़िंदगी भर साथ दूंगी पीकर मत चलाना।।

राम जन्म में दूध मिला, कृष्ण जन्म में घी।
कलयुग में दारू मिली, सोच समझ कर पी।।

अगर पी है तो भगा ले
वरना 1132 के पीछे लगा ले।

भाँग माँगे मीठा, चरस माँगे घी
दारू माँगे जूता चप्पल, जब-जब ज़्यादा पी।

यानी आपको भँग पीने पर मीठी चीज़ खाने की इच्छा होती है, चरस पीने वाले अगर घी जैसी पुष्टिवर्धक चीज़ खाएँ तो बेहतर है, पर हंगामेबाज़ दारूबाज़ों का तो कोई सरल सभ्य प्राकृतिक उपचार है ही नहीं। पीने पर एक आख़िरी शे'र देखेंः

ऐ दूर के मुसाफ़िर, नशे में चूर गाड़ी मत चलाना।
बच्चे इंतजार में हैं, पापा वापस ज़रूर आना।।

आपने ग़ौर कर लिया होगा कि ये नारे कई तरह के संवाद परोस रहे हैं। कहीं ऑटो, जो अकसर माशूक़ा की भूमिका में होती है, अपने माशूक़ के वावफ़ा रहने का इसरार करती है, कहीं पीछे चलते किसी भी ड्राइवर को ये चीज़ें संबोधित हैं, और कहीं तो इसे बस 'जनहित में जारी' कर दिया गया है:

आबादी का बढ़ता बोझ, साधन घटते जाते रोज़।
पेड़ों से आती हरियाली, हर हाल में हो रखवाली।।

अगर पीछे अशोक के बहुभाषीय अभिलेखों तक जायें तो आदेशों व सूचनाओं को पब्लिक कंज़ंप्शन या जनहित में जारी करने की रवायत पुरानी है, पर हमारी याददाश्त में आधुनिक वाहनों पर इतने इफ़रात में सरकारी नारों का इस्तेमाल आपातकाल के आसपास से हुआ। बीस-सूत्री कार्यक्रम के तमाम सूत्र तो पेले ही गये, और याद हो तो 'छोटा परिवार, सुखी परिवार', 'अनुशासन ही देश को महान बनाता है', 'हम दो, हमारे दो' आदि नारे उन्हीं दिनों की राज्याश्रयी प्रेरणा के नतीजे हैं। बहरहाल, परंपरा का निर्वाह न सिर्फ़ सहमत जैसी संस्थाओं ने सांप्रदायिक सौहार्द फैलाने के उद्देश्य से आयोजित ऑटो स्लोगन प्रतियोगिताओं के ज़रिये किया है, जिसका एकाध अवशेष मिटते-मिटाते हम तक भी पहुँचने में कामयाब हो गया:

मंदिर मस्जिद के झगड़ों में दोनों क़ौमें मिट जाएंगी।
मंदिर-मस्जिद में पूजा करने क्या इनकी लाशें जाएंगी।।

धर्म जोड़ता है तोड़ता नहीं

बल्कि कुछ ऑटोवालों ने भी स्वायत्त ढंग से समाज-कल्याण के नारे दिए हैं, भले ही उनमें से कुछ संदेश वाक़ई घिसे-पिटे-से हैं, जैसे:

दुल्हन ही दहेज है

सुंदरता को श्रृंगार की ज़रूरत नहीं होती

तो चंद नारे वाक़ई आक्रामक हैं, इस तथ्य के गवाह कि हिंदू राष्ट्रवाद का घृणा अभियान एक हद तक सफल रहा है:

दूध माँगोगे खीर देंगे।
कश्मीर माँगोगे चीर देंगे।।

लेकिन ग़ौरतलब है ये कि कुछ नारे थोड़ा हटके, थोड़ी विडंबना और कहीं-कहीं आलोचना का पुट लिए हुए हैं:

रामराज्य तो आने से रहा,
भ्रष्टाचार जा नहीं सकता
? ऐसा लगता है ना!

सौ में से निन्यानबे बेईमान,
फिर भी मेरा भारत महान!

मेरी दिल्ली, तेरी शान।
टूटी सड़कें, ट्रैफ़िक जाम!!

संत कबीर रूहानी कशमकश की पेचीदगियों, उसके ताने-बाने को समझाने के लिए हमें अपनी बुनकर की ज़िंदगी से मुहावरे उठाकर देते हैं, दुष्यंत कुमार हमें वही सुनाते हैं, जो वे ओढ़ते-बिछाते हैं, तो उसी तर्ज़ पर ऑटोवाले भी बिलकुल अपनी कच्ची-पक्की ज़िंदगी हमारे सामने जैसे खोल कर रख देते हैं। हम पाते हैं कि काफ़ी पीड़ा, काफ़ी दर्द, और अपनी यथास्थिति से काफ़ी असंतोष है यहाँ। उम्मीद है तो बस इसलिए कि जिजीविषा है, गुलज़ार के लफ़्ज़ों में, जिये जाना भी तो एक आदत है :

माँ की दुआ जन्नत की हवा।
माँ की बद्दुआ बेटा रिक्शा चला।।

सबर कर बुरे दिन भी टल ही जाएंगे।
मज़ाक उड़ानेवालों के चेहरे बदल जाएंगे।।

जी रहा हूँ ऐसे पीके अश्के ग़म।
जिओ ऐसे तो कलेजा निकल जाए।।

ऐ ऊपरवाले, बदनसीबी न दे।
मौत दे दे, पर, ग़रीबी न दे।।

गाड़ी चलाने से पहले हैंडल संभाल लेना।
अभी भूखी चल रही हूँ, खाना खिला देना।।

सो जाते हैं फ़ुटपाथ पर अख़बार बिछाके।
मज़दूर कभी नींद की गोली नहीं खाते।।

जब तक इंस्टालमेंट देते हो, गाड़ी अपना नहीं सपना है।

वैसे ही जैसे-तैसे कट रही थी, ऊपर से सीएनजी तो कोढ़ में खाज की तरह आया। सीएनजी ने दिल्लीवालों की ज़िन्दगी आम तौर पर, और ऑटोवालों की ख़ास तौर पर, हराम कर दी। पहले केन्द्र और राज्य सरकार के

बीच की रस्साकशी, अदालत का डंडा, ईंधन की क़िल्लत — वो लंबी-लंबी लाइनें कि सारा वक़्त अक्षरशः ईंधन जुटाने में ही लग जाये, आदमी कमाए कब, आराम कब करे — नई स्कूटर ख़रीदने का दंद और लाइसेंस-काग़ज़ का चिरंतन पुलिसिया ख़ौफ़ तो बिल्कुल नये जामे में दम-दाख़िल हो गया। सुनते हैं उनकी आपबीती, उन्ही की ज़ुबानी :

उफ़ ये गैस !

अमीरों को मारा पेट की गैस ने।
ग़रीबों को मारा सीएनजी की गैस ने।।

गाड़ी चल नहीं सकती बिना सीएनजी के।
ड्राइवर गाड़ी नहीं चला सकता बिना सवारी के ।।

गैस मिल गई क्या ?

बुरी नज़र वाले सीएनजी चला

यह अख़िरी नारा तो फिर भी एक अनाम, निराकार दुश्मन को संबोधित है, लेकिन आगे तो साक्षात दिल्ली पुलिस से खुलेआम पंगा ले लिया गया है। इसी ज़मीन का दूसरा शे'र ज़्यादा मार्मिक है :

हमको दिल्ली पुलिस ने लूटा और किसी में कहाँ दम था।
मेरी कश्ती वहीं डूबी जहाँ पानी कम था।।

हमें तो अपनों ने मारा ग़ैरों में कहाँ दम था।
मेरी गाड़ी वहीं रुकी जहाँ सीएनजी कम था।।

ख़ुदा ग़ारत करे सीएनजी बनानेवाले को।
घर से बेघर कर दिया सीएनजी चलानेवाले को ।।

ओए बेटा नीले, सीएनजी न मिले, तो देसी पी ले।
अगर देसी न मिले, तो थैली पी ले।।

दारू से सीएनजी का ग़म ग़लत नहीं होना था, नहीं हुआ। सीएनजी का कारवाँ तो चल पड़ा था, गर्दो-ग़ुबार भी धीरे-धीरे थम ही गया। ऑटो को नये पर्यावरण के मुताबिक़ अपना रंग-रूप बदलना पड़ा, अपनी देह पर सीएनजी का अनिवार्य गुदना गुदाना पड़ा और साथ ही बदली उसकी वाणी :

सीएनजी की कदर करें

लेकिन इस मौक़े का सबसे ज़्यादा फ़ायदा उन लोगों ने उठाया जिनका संघर्ष के दौर में अस्तित्व ही नहीं था। आरटीवी नाम की एक नई ग्रामीण वाहन गाड़ी शहर में चली, जिसके लिए आसमान साफ़ था, ज़मीन समतल थी, सो वे चटपट आबाद हो गईं, ख़ुद को 'हरी-भरी' कहा, लगभग आत्ममुग्ध, स्वनामधन्य अंदाज़ में। लेकिन उन्होंने पैसेंजरों का ऐसा ठुँसान ठूँसा कि उनकी स्वार्थपरता भी उनकी अपनी ही किसी सखी-सहेली ने उजागर कर दी :

हरी तुम्हारी, भरी हमारी

जो हरी-भरी दिल्ली के सरकारी मंसूबों पर एक तल्ख़ टिप्पणी है, होगी हरी तुम्हारी, हमारी तो हमें बस भरी चाहिए। एक लिप्सा-दर्प भी है।

बहरहाल, ये सब तो ऐतिहासिक हादसे हैं — यक़ीनन संजीदा, मगर आए-गए। आइए, वापस कुछ स्थायी क़िस्म की वेदनाओं की ओर लौटें। ऑटो वालों की तमाम ज़िंदगी टुकड़ा-टुकड़ा इंतज़ार की ज़िंदगी है। एक जगह से दूसरी जगह जाने का, भाड़ा सही मिलेगा कि नहीं, मीटर सही उठेगा कि नहीं, पैसेंजर मिलेगा कि नहीं। सड़क का ये सफ़र मुसलसल इंतज़ार का सफ़र है। लेकिन चिर-प्रतीक्षा का यह दर्द ऑटो के नारों में सबसे गहरा तब उभरता है, जब हम ऑटो वालों के विरह-विदग्ध सगे-संबंधियों की दशा देखते हैं:

कीचड़ में पैर रखोगी तो धोना पड़ेगा।
ड्राइवर से शादी करोगी तो रोना पड़ेगा।।

पापा जल्दी आ जाना।
मम्मी इंतज़ार कर रही है।।

भोजन भरी थाली,
दूध भरा प्याला,
बालम तेरी याद में।

लेकिन इस सर्वदा चलायमान ज़िंदगी में इंतज़ार भी स्थायी नहीं है:

मौत भी मुकम्मल, तेरा भी एतबार है
दोनो में जो भी आए, उसका इंतज़ार है

यह हम नहीं कह रहे हैं, '3952 आई थी कहकर चली गई':

सीख ले बेटा ड्राइवरी, बड़ी बुरी है जात।
न रहने का ठौर ठिकाना, घरवाली देखे बाट।।

जल्दी घर लौट कर आना

लिखा परदेस क़िस्मत में, वतन की याद क्या करना।
जहाँ बेदर्द हाकिम हों, वहां फ़रियाद क्या करना।।

क़िस्मत ने मुझको राह का पत्थर बना दिया।
जो इधर से गुज़रा ठोकर लगा गया।।

दिल तो बहुत रोया, पर आँखों से न रो सके।
ज़िंदगी रोड पर गुज़री, कभी गद्दे पर न सो सके।।

परदेसी तुम कब आओगे?

हम गगन गिल के एक उम्दा लेख के हवाले से जानते हैं कि रघुवीर सहाय की तरह ही बहुत सारे ऑटो वालों के लिए भी दिल्ली परदेस ही है, यहाँ सड़कों पर वह वक़्त-बेवक़्त, उनींदे इसलिए दौड़ते फिरते हैं कि गाँव के उनके घर में एक और नींव पड़ जाए, एक और दीवार उठ जाए, एक अदद छत डल जाए, चंद रुपये मनीआर्डर के चले जाएँ। यानी बक़ौल राही मासूम रज़ा, ग़ुब्बारे भले यहाँ उड़ रहे हों, डोर तो कहीं और है। पर ये जीना भी कोई जीना है: शहर की, सड़क की, सवारी की अनिश्चितताएँ, पुलिस का खड़का, ट्रैफ़िक का हाँका! इसीलिए आपने भाग्य के साथ समझौता कर लेने के बाद भी एक आउटडेटेड सी नसीहत वे अब भी कलेजे से लगाए घूमते हैं:

जय

बाबा बालकनाथ की जय माता दी जय

संतोषी माँ ओम नमः शिवाय जय बाबा

गनीनाथ माँ का आर्शीवाद माँ की पनाह में है ड्राइवर गाड़ी

र इसके बच्चे माँ की अमानत सबका

मालिक एक धन-धन सतगुरू तेरा ही आसरा गुरूकृपा जय

श्री गौरीशंकर जय श्री बालाजी जय चामुंडा देवी जय भैरव

जय जगन्नाथ जी जय दादा देव जय माँ भगवती ओम

साईंनाथ ओम साईंराम जय मां काली साहिब सतगुरू

कबीर जय दादा खेतवाले की चल

कांवरिया शिवधाम जय मां झंडेवाली जय मा

शेरावाली जय बजरंगबली जय भूमियावाले बाबा

की हर श्रीनाथ जी हरिओम राधेराधे जय बाबा

खाटूवाले की जय दादा देव जी बाबा रामदेव

जी की जय जय गोगा पीर जय मां ज्वाला

जय पूर्णागिरि एक तू ही निरंकार जय मा

पाथरीवाली की ओम कुंजबिहारी नमः बोल

बम श्री बाबा गोरखनाथ की जय जय श्री तिरुपति जी

गॉड गिफ्ट जय बाबा लोकनाथ जय

सच्चिदानंद भगवान श्री राममंगल जी

महाराज जय बाबा लाल जी जय जाहर

वीर बाबा जय बाबा गरीबनाथ जय मां

नगरकोटवाली की जय नैना देवी

संत को दिल्ली मत भेजना

चाँदनी चौक के फ़व्वारे न होते, इंडिया गेट के नज़ारे न होते।
गाड़ी अगर न चलती होती, ड्राइवर भूखे मरते होते।।

सवारी मिल भी जाए तो परेशानी ख़त्म हो जाती है क्या? एक से एक लोगों से पाला पड़ता हैः कोई कहता है तेज़ चलो तो कोई धीरे चलने की ताक़ीद करता है, किसी को लंबा, फ़रागत रास्ता चाहिए तो कोई शॉर्टकट ढूंढता है...चाहे जो हो

गाड़ी चलानेवाला, किसी से कुछ नहीं कहता।
सवारी शोर करती है, ड्राइवर कुछ नहीं कहता।।

क्योंकि वह जान चुका है, सवारी से झगड़ा करना नादानी है, ज़्यादा अकड़ ठीक नहींः

झुकते वही हैं जिनमें जान होती है।
अकड़ जाना मुर्दे की पहचान होती है।।

ऑटो वाले हर हालत में अपनी सवारी के शुक्रगुज़ार हैं सिवाय उधारियों के हमने तो शायद ही कभी किसी को उधार पर ऑटो लेते देखा है, लेकिन ये जनाब तो इस तरह की शिकायत से बचने की जुगत भिड़ाते दिखेः

नाज़ुक है ज़िंदगी परेशां है ज़माना।
आपसे उधार करके हमें क्या है कमाना।।

पानी गिरता है पहाड़ से, दीवार से नहीं
दोस्ती है हमसे, हमारे रोज़गार से नहीं

धर्म, विश्वास, आस्था

रॉकेट छोड़ते समय नारियल फोड़ने वाले देश में वैसे तो यह समझने में कोई मसला नहीं होना चाहिए कि मशीनों पर काम करने वाले भी काफ़ी पूजा-पाठ, सगुन-अपसगुन मानते हैं। ऑटो की दुनिया भी काफ़ी हद तक अंधविश्वासों की दुनिया है, विश्वास और आस्था की तो है हीः कुछ लोग शायद दोनों में फ़र्क़ भी नहीं करते होंगे। हम उन्हें दोष नहीं देते, क्योंकि वैसे भी आधुनिकतावादी विवेकवाद के इतने लंबे शासनकाल के बाद क्या

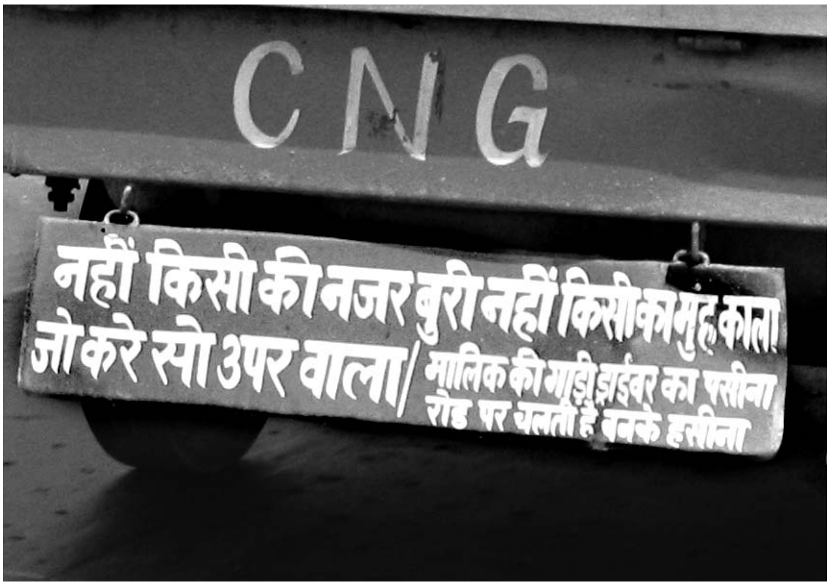

दोनों में कोई तार्किक भेद करना संभव है? बहरहाल, जिसे आम शब्दावली में आस्था कहा जाता है, धर्म कहा जाता है, उसी की बात करें। ख़तरों से खेलते इस भगवान-भीरू जीवन के बारे में पहली मार्के की बात तो यह है कि यह बहु-देववादी है... लोगों की अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक जड़े हैं, सरोकार हैं, मत-परंपराएँ हैं। आते होंगे लोग दिल्ली भौतिक संपदाओं की अपनी एक छोटी-सी गठरी लेकर, लेकिन मन की आध्यात्मिक गठरी में तो क्या कुछ नहीं समाया होता है, और यह गठरी जब सड़कों पर, इबारतों में बिछती है, तभी हम पर खुलती हैः

मधुर मधुर नाम, हरि ओम हरि ओम।
पावन पावन नाम हरि ओम हरि ओम।।

माता रानी फल देगी।
आज नहीं तो कल देगी।।

जय बाबा भैरो नाथ की।
चिंता नहीं किसी बात की।।

चाँदनी रात थी नदी का किनारा था।
स्टीयरिंग था हाथ में माता का सहारा था।।

शिव समान दाता नहीं, बिपत निडारन हार।
लज्जा मोरी राखियो, नन्दी के स्वार।।

शिव हमारे गुरु हैं
शिव जन-जन के गुरु हो सकते हैं

सोने से पहले अपने गुनाहों को याद कर।
कहीं यह तेरी ज़िन्दगी की आख़िरी रात न हो।।

आपने लक्ष्य किया होगा कि मुख़्तलिफ़ ख़ित्ता-जवार से दिल्ली में आए ये पुरुषार्थी अपने मन की गाँठ में अपने इष्ट, आराध्य को भी बांध लाए हैं, और बतौर सुरक्षा-कवच उन्हें अपनी गाड़ी की दीवारों पर चिपका कर उसे किसी अनिष्ट की आशंका से बुलेट-प्रूफ़ कर लेते हैं। गाड़ी-छकड़े का क्या ठिकाना। कब बिदक-बिगड़ जाये, कब कोई और ही ग़लती कर बैठे, ख़ुद से ही कोई भूल-चूक हो जाये — यहाँ तो लोग थोड़ा-सा छू जाने पर भी आसमान सर पर उठा लेते हैं। तो समरसता के तमाम शोर-जाप के बावजूद विविधता और आस्था की निजता यथावत बनी है।

न हिंदू बुरा न मुस्लिम बुरा।
जो बुराई पर उतर आए, है वो इंसान बुरा।।

अकाल मृत्यु वो मरे जो काम करे चंडाल का।

उसका काल क्या करे जो भक्त हो महाकाल का।।

हम चिंतन करें उनकी, जिन्हें चिंता हमारी है।
हमारे रथ की रक्षा जो करे, वो सुदर्शन चक्रधारी हैं।।

पर हमारा सर्वप्रिय धार्मिक, ठेठ देहलवी नारा यही हैः

मेरे बाबे दी फुल कृपा

कुछ ऑटो: सेंटिमेंट से लदी-फदी

धार्मिक नारों में भक्ति और समर्पण तो है ही, एक अनाम डर का भी तत्त्व है। दुर्घट या अनिष्ट को टालने का आनुष्ठानिक तत्त्व भी है, शैतानी के शमन की दैनिक मजबूरी है। पर अब ज़रा शुद्ध सड़कछाप इश्क़िया शायरी की बात करें। और एक बार फिर हमें यहाँ इश्क़ के तमाम पहलुओं, चरणों, ख़तरों, नाकामियों-सफलताओं, संयोग का उछाह, वियोग का बिछोह, वफ़ा का ऐलान, बेवफ़ाई की सरेआम रुस्वाई, ताने-उपालंभ और लगन के दर्शन होते हैं, उसी चिर-परिचित फ़िल्मी अंदाज़ में:

किसी से प्यार न करो, हो जाए तो इन्कार न करो।
निभा सको तो निभाओ, किसी की ज़िन्दगी बर्बाद न करो।।

घरवाले कहते हैं, घर छोड़ दो,
गर्लफ्रेंड कहती है, मुझे प्यार करना छोड़ दो,
दोस्त कहता है, ज़िन्दगी छोड़ दो।

माना हम ग़ैर हैं, अपने बन सकते नहीं।
ऐसी क्या मजबूरी है कि कभी मिल सकते नहीं।।

दूर से देखा करो, सुंदर गुलाब होते हैं।
हाथ से छूना नहीं, काँटे हज़ार होते हैं।।

इस आख़िरी शे'र पर ना जाएं, यह चाहत महज किताबी नहीं है, दैहिक भी है, और प्रकृति का आलंब तो शास्त्र-सम्मत बहाना है

बुलबुल भी चहचहाने लगती है, सावन में जब छाती है घटा।
तुम्हें चूमने को दिल चाहता है, ज़रा गालों से ज़ुल्फ़ें तो हटा।।

ख़ुशबू फूल से होती है, चमन का नाम होता है।
निगाहें क़त्ल करती हैं, हुस्न बदनाम होता है।।

लेकिन हर आशिक़ की तरह एक मासूम, अदम्य, नैसर्गिक विश्वास भी, कि हमारा मिलना तय है:

पत्ते हिलते नहीं हवा हिला देती है।
सच्चे आशिक़ों को क़ुदरत मिला देती है॥

फिर गहरी प्रतिबद्धता का ऐलान:

फूलों से पूछो भँवरों के लिए श्रृंगार कितना।
मेरे दिल से पूछो तेरे लिए प्यार कितना॥

मंदिर में जाके यही फ़रियाद करता हूँ।
ख़ुदा उसको सलामत रखे, जिसे मैं प्यार करता हूँ॥

प्यार मिले तो उसे अपना लो।
वफ़ादार कम मिलते हैं॥

पर अकसर जैसा होता है, अंततः उस विश्वास का टूटना:

याद आ जाती है तेरी हर शाम के बाद।
आँसू आ जाते हैं आँखों में तेरे नाम के बाद॥

फिर कोसना इस तरह कि डियर तुम्हारे इन्कार में तुम्हारा ही घाटा है, भूल तो ख़ैर क्या पाओगी मुझे:

माना आपकी नज़रों में हम कुछ नहीं।
ज़रा उनसे पूछो, जिन्हें हम हासिल नहीं॥

रोओगी, तड़पोगी, फ़रियाद करोगी।
वो दिन भी आएगा, जब तुम हमको याद करोगी॥

आम लोग ऐसी स्थितियों में बोतल का सहारा लेते हैं, लेकिन कुछ लोग तो आँखों की लत लगा बैठे हैं:

जीनेवाले तो हर हाल में जी लेते हैं,
सीनेवाले तो हर ज़ख़्म सी लेते हैं।
नहीं पिलानी है तो मत पिला साक़ी,
पीनेवाले तो इन आँखों से भी पी लेते हैं॥

जाम से जाम पीने से क्या फ़ायदा,
रात में ही सारी उतर जाएगी।
उनकी आँखों से पी ले,
सारी उम्र नशे में गुज़र जाएगी॥

जीवन में हँसने की बड़ी महिमा है, ख़ास तौर पर दिल टूटने को जो हँसके टाल जाय, वह इंसान ख़ास तो है:

आपको मिस करना रोज़ की बात है,
अपको याद करना आादत की बात है।
आपसे दूर रहना क़िस्मत की बात है,
आपको झेलना हिम्मत की बात है॥

पेड़ से पत्ते गिरते हैं, उठाता है कोई-कोई।
प्यार सभी करते हैं, निभाता है कोई-कोई।।

तुम बोलो या न बोलो तुम्हारे बोलने का काम नहीं।
तुम्हारी हँसने की अदा भी बोलने से कम नहीं।।

घूँघट में तुझे देखा तो दीवाना हुआ,
संगीत का तराना हुआ,
शमा का परवाना हुआ,
मस्ती का मस्ताना हुआ।
जैसे ही घूँघट उठाई इस दुनिया से रवाना हुआ।।

एक लड़की को देखा तो ऐसा लगा,
दूसरी लड़की को देखा तो वैसा लगा।
जब दोनों के जूते लगे तो एक जैसा लगा।।

कुछ शब्द बदल गये हैं, लेकिन भाव वही हैं:

वो लड़की कितनी प्यारी थी जिसको आँख मारी थी।
वो सैंडल कितनी भारी थी जो उसने मारी थी।।

इस तरह दिलफेंक और जुमलादाग़ आशिक़ों के मानस में महिलाओं की सैंडल का ख़ौफ़ तो है पर उन्हें यह भी लगता है कि वे कॉलेज न जाकर थोड़े वंचित से रहे हैं:

NO NOLEG
WITHOUT KOLEG

ज्ञान तक ऐक्सेस हर किसी के बस की बात नहीं और कॉलेजों में सिर्फ़ ज्ञान ही नहीं मिलता। अगर 'फ़िल्मी कॉलेजों' के दृष्टांतों पर भरोसा किया जाए तो वहाँ ऐसी फ़्री ललनाएँ भी मिलती हैं जो इस दुनिया में महज़ आमोद-प्रमोद और उपभोग की वस्तुएँ हैं:

पढ़ती थी कॉलेज में पहनती थी जूतियाँ।
चलती थी सड़क पे धड़कती थी चूचियाँ।।

ऐसा लगता है कि 'डिज़ायर' और 'क्लास' में टेंशन है, क्लास और जेंडर के बीच मसले हैं, सेक्स और सभ्यता तो विपरीतार्थक शब्द युग्म हैं ही। देवियों और सज्जनो, हमें इस सच से इन्कार नहीं कि हमारा भाड़ागाड़ी का यह जाबांज़ आशिक़ मर्दवादी फ़िल्मी लोक-संस्कृति का ही एक नमूना है। आप में से जिनके कान लाल हो रहे हों उनसे क्षमा याचना सहित उनकी नज़र करते हैं इस तरह के सेंटीमेंट को पंक्चर करता हुआ एक सुपरहिट शे'र:

मत सता लड़की को, ये पाप होगा।
तू भी किसी दिन, किसी लड़की का बाप होगा।।

बुरी नज़र

ऑटो जीविका है। धंधा है। लक्ष्मी है। जब ये घर आता है या कहना चाहिए कि आती है तो इसका शृंगार होता है लेकिन सजे-संवरे रूप को नज़र लग जाने का लोकापवाद तो आम है। इसलिए झट से डिठौना लगा दिया

जाता है। नज़र कौन लगाएगा, वही न जो जलेगा। नज़र की कई काटें हैं और कुछ ख़ास दिनों पर कुछ विशेष टोटके भी किए जाते हैं। जैसे जूते टाँगना, नींबू-मिर्ची लटकाना, शनिवार को रेडलाइट पर सरसों तेल में लोहे के शनि महाराज को दान देना, राह चलते अगर किसी मातबर दरगाह या हनुमान मंदिर के दर्शन हों जायें तो सर झुका देना। लेकिन एक बार फिर रोज़ाना अनिश्चितताओं की इस दुनिया में कुछ न कुछ स्थायी समाधान भी किए जाते हैं। और यह धर्म, पंथ, विश्वास से ऊपर की रूढ़ अंधविश्वासों का चलन है। मान्यता है कि

इन्सान इतना अपने दुखों से दुखी नहीं है।
जितना दूसरों के सुखों से दुखी है।।

लिहाज़ा लगभग सौ फ़ीसदी ऑटो वालों को बुरी नज़र का ख़ौफ़ सताता है: और उसको काटने में वे तरह-तरह की रचनात्मक जुगाड़ लगाते हैं। बुरी नज़र वाले तेरा मुँह काला तो ख़ैर सर्वव्यापी है और सबसे घिसा-पिटा नारा है, लेकिन इस भाव की अन्य भंगिमाएँ भी दिलचस्प हैं:

बुरी नज़र वालों की तीन दवाई।
जूता, चप्पल और पिटाई।।

चलती है गाड़ी, उड़ती है धूल।
जलते हैं दुश्मन, खिलते हैं फूल।।

या पाठांतर में:

मिलती है सवारी खिलते हैं फूल

इसका एक और रूप चित्रमय है यानी कि जूता लिखा नहीं, चित्रित है, बाक़ायदा काला और भयावह। इससे एक तीर में दो शिकार हो जाते हैं। आप डिठौना भी लगा गए, धमकी तो दे ही रहे हैं... जैसे यहाँ:

बुरी नज़र वाले तेरे लिए तोहफ़ा – (जूते की तस्वीर... आँख की भी...)

पर ऐसा लगता है कि बुरी नज़र वाले कुत्ते की दुम की तरह हैं:

बुरी नज़र वाले
तू फिर जूते खा ले।

ओफ़ कितनी हिंसा है हमारी सड़कों पर!

35 के फूल 36 की माला
बुरी नज़र वाले तेरा मुंह काला

बुरी नज़र वाले तेरा मुँह काला
तेरा आतंकवादियों से पड़े पाला।

दिल्ली और आतंकवाद का यह पुराना रिश्ता बसों में आपकी सीट के नीचे 'बम्ब' से होता हुआ ऑटो के पिछवाड़े पर बद के लिए बद्दुआ बन चिपक गया...।

बुरी नज़र वाले तेरे बच्चे जियें

और इसके पहले कि आप ऑटो वाले की मौलिक शराफ़त और सद-दुआ पर झूम उठें

बड़े होकर तेरा ख़ून पियें...

एक और पाठांतर

बड़े होकर देसी दारू पियें

कुछ तो सीधे-सीधे अपनी बात कहना पसंद करते हैं - बिना किसी लाग-लपेट, हर्रे फिटकिरी के, बिल्कुल कोसने की ठेठ देहाती परंपरा में...

बुरी नज़र वाले तू जल

बुरी नज़र वाले तू पी के 100 जा

बुरी नज़र वाले भगवान तुझे उठा ले

बुरी नज़र वाले, तू ज़हर खा ले

लेकिन कुछ लोग उनसे एक-दो गालियाँ देकर मुक्ति पाना नहीं चाहते बल्कि एक ऐसा स्थायी रिश्ता गढ़ लेते हैं, जो लोक-संस्कृति द्वारा विहित, पोषित और मान्य हो - चाहे जब जी चाहे एक गाली जड़ दो :

बुरी नज़र वाले तेरा मुँह काला।
मैं तेरा जीजा, तू मेरा साला।।

एक भाई साहब को तो ऐसे तत्त्वों से इतनी कोफ़्त है कि वे एक नया भारत छोड़ो आंदोलन छेड़ देना चाहते हैं :

बुरी नज़र वाले लंदन जा...

वैसे और भी रास्ते हैं, नज़रों में अगर खोट है, साहब, तो इलाज कराइए :

BNW आँखें बदल

या इलाज संभव न हो तो हे

बुरी नज़रवाले, नेत्रदान करा ले!

लेकिन सारे लोग आँख के बदले आँख, ख़ून के बदले ख़ून के प्यासे सड़कों पर नहीं घूम रहे हैं, चंद शरीफ़ समाजसुधारवादी क़िस्म के लोग भी हैं :

न किसी की बुरी नज़र, न किसी का मुँह काला
सबका भला चाहता है, 2072 वाला

बुरी नज़र वाले तेरा भी भला

एक तो गांधीवादी भी मिला, बिल्कुल किताबी :

बुरा मत देखो, बुरा मत कहो, बुरा मत सुनो

या इसी को बेहतरीन शायराना अंदाज़ में ऐसे कहा गया है :

बुत को बुत ख़ुदा को ख़ुदा कहते हैं।
हम भी देखें तो उसे देख के क्या कहते हैं।।
जो भले हैं वो बुरों को भी भला कहते हैं।
न बुरा सुनते हैं अच्छे न बुरा कहते हैं।।

तो साहब जलने से भरसक परहेज़ कीजिए और अगर जलना ही है तो :

जलो मगर दिये की तरह।

नेक नीयत, मंज़िल आसान

और इसी पर-उपदेश कुशल बहुतेरे के नोट पर हम भी अपनी ऑटो-यात्रा को विश्राम देना चाहेंगे। चुन्नू ते मुन्नू ते पिंकी ते 100नू की गड्डी को इजाज़त दीजिए, हम फिर मिलेंगे :

नदी किनारे बुलबुल बैठी ओढ़े लाल दुपट्टा।
अगले चक्कर फिर मिलूंगा दिल न करना खट्टा।।

क्योंकि वक़्त के साथ हमारा पहिया तो नहीं रुकनेवाला और न ही रुकेगी सड़कछाप शायरी, ये अलग बात है कि बाज़ार का कुछ असर हमारी दीवारों पर शायद दिखने लगे और मंटो ने जिस आशंका की बात उस लेख के आख़िर में की थी वह सच हो जाये यानी कि हमारी अपनी दीवारों की शायरी भी शायद प्रायोजित हो जाए, मेट्रो की दीवारों की तरह — सपाट, चकाचक और यांत्रिक। चटपटा स्वाद जाने का अफ़सोस तो हम सबको होगा पर दुनिया तो फ़ानी है, आनी-जानी है :

सुबह का बचपन हँसते देखा दोपहर मस्त जवानी।
शाम का बुढ़ापा ढलते देखा, रात को ख़त्म कहानी।।

बुलबुल की ज़िंदगी चमन की बहार पर
ड्राइवर की ज़िंदगी मोटर की रफ़्तार पर

आपके बैठने का धन्यवाद...

उफ़ बाजी, रिक्शा गई!

आभार

यह लेख सराय की आलोचनात्मक शहरी लोक-संस्कृतिप्रियता की साझी उपज है और ख़ासतौर पर शुद्धब्रत सेनगुप्ता को समर्पित है। जिन दोस्तों ने नारे जमा करने में हमारी मदद की उनमें सोहन पाल अग्रणी हैं, जिन्होंने कई मौक़ों पर बस से उतर कर ऑटो के पीछे भागने तक की ज़ेहमत उठायी। दीपू (अवधेन्द्र शरण) और सौम्या गुप्ता ने बारी-बारी से गणेश और कृष्ण यानी लिपिक व सारथी की भूमिकाएँ बख़ूबी अदा कीं। शाहिद अमीन, ऋतु मिश्रा, आदित्य निगम, अविनाश झा, विजय सिंह, सदन झा, संजय शर्मा, नरेश गोस्वामी और योगेन्द्र दत्त ने या तो कई बेजोड़ नारे दिए या कुछ अच्छे सुझाव। करूणाकर को तो यह रोग ऐसा लगा कि वह हमसफ़र हो लिया और यहाँ छपी तस्वीरें उसी के कैमरे के जादुई चमत्कार हैं, ज़्यादातर चलती गाड़ी से उतारे गए।

संदर्भ:

स'आदत हसन मंटो, बलराज मेनरा, शरद दत्त (सं.) *दस्तावेज़ मंटो,* खंड 4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993.

रोलाँ बार्थ, *अ लवर्स डिस्कोर्सः फ़्रैग्मेंट्स*. 1977

http://wikipedia.org/wiki/Auto_rickshaw